



ISSN Print: 2394-7500
ISSN Online: 2394-5869
Impact Factor: 5.2
IJAR 2018; 4(1): 399-404
www.allresearchjournal.com
Received: 21-11-2017
Accepted: 09-12-2017

हरिनाथ झा

शोध-प्रज्ञ, यू जी सी- नेट, जे
आर एफ, संस्कृत विभाग, ल०
ना० मि० विश्ववि०, दरभंगा,
बिहार, भारत

(क) ईशोपनिषद् में ब्रह्मतत्त्व की व्यापकता

हरिनाथ झा

प्रस्तावना:

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवा वशिष्यते ॥^[1]

प्रस्तुत मन्त्र ईशावास्योपनिषद् के मंगलाचरण के रूप में व्यपदिष्ट है। मंगलाचरण एवं शान्ति पाठ में ही ब्रह्म की पूर्णता को प्रदर्शित करते हुए सभी प्रकार से पूर्ण बताया गया है। वह सच्चिदानन्द घन परमात्मा (परब्रह्म) अपने आपसे परिपूर्ण है, यह संसार (दृष्य-जगत्) उस परमात्मा से परिपूर्ण है; क्योंकि कारणभूत उस पूर्ण ब्रह्म परमात्मा से ही यह (कार्यभूत) पूर्ण (जगत्) उत्पन्न हुआ है। पूर्ण (संसार) के पूर्ण (पूरक परमात्मा) को स्वीकार करके उसमें स्थित होने से उस साधक के लिए एक पूर्ण ब्रह्म परमात्मा ही अवशेष रह जाता है। इस मन्त्र में परमब्रह्म के विपन्न एवं पूर्ण स्वरूप को दर्शाया गया है।

उपनिषदों में ब्रह्म के स्वरूप पर विशद चर्चा है। उपनिषदों के अनुसार-ब्रह्म ही परम तत्त्व है। वह ही एक मात्र सत्ता है। वह जगत् का सार है। वह जगत् की आत्मा है। ब्रह्म शब्द 'बृह्' धातु से बना है। जिसका अर्थ है बढ़ना या विकसित होना। ब्रह्म को विश्व का कारण माना गया है। इससे विश्व की उत्पत्ति होती है और अन्त में विश्व ब्रह्म में विलीन हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म विश्व का आधार है। ब्रह्म जगत् का कारण है।

शोध-प्राकल्पना:

मंगलाचरण के आरम्भ में ॐ शब्द की व्युत्पत्ति निम्न है:-

“ॐ तत् सहिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।”

इस वाक्य के अनुसार ॐ परमब्रह्म के नामों में अद्वितीय है। 'ओम्' शब्द पर पूर्वमीमांसक शावरभाष्य में कहते हैं-अ ब्रह्म का सर्वप्रथम नाम है।^[2] अष्टश्लोकी में श्रीवरवराचार्य कहते हैं-ओम् के प्रथम वर्ण अकार के वाच्यार्थ जगत् की सृष्टि, रक्षा तथा प्रलय करने के लिए भगवान् विष्णु हैं।^[3]

भृगुवल्ली के अनुसार-जिसमें ये सभी भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके द्वारा सुरक्षित रहते हैं तथा जिसमें लीन होकर मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं,

Corresponding Author:

हरिनाथ झा

शोध-प्रज्ञ, यू जी सी- नेट, जे
आर एफ, संस्कृत विभाग, ल०
ना० मि० विश्ववि०, दरभंगा,
बिहार, भारत

उसे ही जानने की इच्छा करनी चाहिए, वही ब्रह्म है।^[4] विशिष्टाद्वैतवादियों के अनुसार अ, उ और म् इन अक्षरों के संयोग से ओम् शब्द निष्पन्न हुआ है। इन तीन वर्णों में सर्वप्रथम 'अ' भगवान् विष्णु का वाचक है। अमरकोश में भी बताया गया है— "अकारो वासुदेवः स्यात्"। गौड़पादीय माण्डूक्य—कारिका के आगम प्रकरण में ओंकार को ब्रह्म या परमात्म तत्त्व बताया गया है। ओंकार के अ, उ, म् के द्वारा प्रतिपाद्य आत्मतत्त्व जाग्रत् में वहिष्प्रज्ञ, स्वप्न में अन्तःप्रज्ञ और सुषुप्ति में धन—प्रज्ञ होता है जो क्रमशः व्यष्टि का विश्व, तैजस और प्राज्ञ तथा समष्टि का वैश्वानर, हिरण्यगर्भ और ईश्वर कहलाता है। यह परमात्म तत्त्व इन तीनों में अन्तर्यामी है तथा इन तीनों के पारगामी भी है, पारगामी रूप में यह ओंकार के चतुर्थपाद स्वरूप अमात्र या तुरीय के नाम निरूपित है। यह ओंकार रूप परमात्मतत्त्व अपरब्रह्म और परब्रह्म दोनों हैं; अनन्तमात्र हैं और अमात्र हैं; यही प्रपञ्चोपशम शिव अद्वैत तत्त्व है।

कूट—शब्द: ऊँ, ईश्वर, ब्रह्म, अपरब्रह्म, परब्रह्म, अद्वैत, अमात्र, वैश्वानर, प्रज्ञ

शोध—स्वरूप:

'पूर्णमदः पूर्णमिदं'—वह पूर्ण है; यह भी पूर्ण है, यह व्याप्ति एवं हमारे बोध के विस्तार को द्योतित करता है। नीति वाक्य की दृष्टि से वेदान्त में वह और यह शब्द विशिष्ट अर्थ रखता है। समस्त ज्ञान का आरम्भ इसी प्रश्न से होता है। 'अदः' (वह) ब्रह्म के लिए प्रयुक्त हुआ है क्योंकि ब्रह्म इन्द्रियातीत है; वह मन, वचन एवं कर्म से नहीं जाना जा सकता है। ब्रह्म नित्य और अविकारी है। वह ज्ञान रूप एवं चैतन्य है। वह सदा प्रबुद्ध है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं से रहित है। वह स्वतः प्रकाशशील है। पूर्णकाम होने के कारण वह आनन्दघन कहलाता है। इसके विपरीत संसार अनन्त, जड़ तथा दुःखमय है।^[5] जगत् सत् नहीं है क्योंकि ब्रह्मज्ञान से उसका नाश हो जाता है। ब्रह्म अनन्त और अद्वितीय है—

एकमेवा द्वितीयं सन्नामरूप विवर्जितम् ।

सृष्टेः पुराऽधुनाप्यस्य तादृक्त्वं यदितोर्यते ।।^[6]

सांख्यदर्शन भी प्रकृति एवं प्रधान को समझाने के लिए दो शब्द प्रयोग करता है, प्रकृति, अव्यक्त अवस्था एवं विकृति (सर्ग) उसकी व्यक्त अवस्था।^[7] उसी प्रकार वेदान्त में 'ब्रह्म' निष्क्रिय एवं अव्यक्त अवस्था एवं माया

सक्रिय एवं सक्रिय व्यक्त अवस्था।^[8] इस प्रकार 'अदः' अज्ञेय एवं 'इदं' ज्ञेय के लिए प्रयुक्त हुआ है।

'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते'— इस असीमित ब्रह्म से असीम जगत् की उत्पत्ति हुई है। वेदान्त के अनुसार असीमित निर्गुण ब्रह्म से ही सगुण रूप निकलता है। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म का ही विवर्त है। इस व्यक्त जगत् के परे ओम् के पीछे ब्रह्मतत्त्व है, जो शुद्ध सत्ता की पूर्णता है और फिर यह मन्त्र हमें सम्भवतः रूप जगत् के विषय में बताता है, जो ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ न होने के कारण पूर्ण ही है। सम्पूर्ण तत्त्व की दृष्टि से सर्वत्र पूर्णता है।

ब्रह्म असीमित है, यह चराचर जगत् भी असीम है, किन्तु यह (जगत्) उस (ब्रह्म) का भाषित रूप है। यदि यह जगत् पृथक् भी हो जाय, वह पूर्व की भांति असीम ही बना रहेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि इस चराचर जगत् का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसकी सत्ता मात्र इस कारण है, क्योंकि यह ब्रह्म द्वारा भाषित है। जैसे अन्धेरे में पड़ी हुई रस्सी देखने वाले का रस्सी विषयक अज्ञान सर्प के आकार में परिणत हो जाता है, किन्तु पास जाकर भलीभाँति देखने से यह अज्ञान दूर होकर यह निश्चित हो जाता है कि साँप नहीं प्रत्युत रस्सी है। इसी प्रकार स्वयं प्रकाश अनन्त ब्रह्मरूपी वस्तु में अज्ञान तथा तज्जन्य सम्पूर्ण चराचर जगद्रूपी अवस्तु का भ्रम भाषित होती है। जिससे सर्प रस्सी में बदल जाता है। ठीक उसी प्रकार जब ब्रह्म को जान जाते हैं (जो स्वयं भी हैं), जगत् ब्रह्म में समाहित हो जाता है।

ब्रह्म की व्यापकता को प्रदर्शित करते हुए ईशावास्योपनिषद् का प्रथम मन्त्र बताता है कि यह सम्पूर्ण जड़—चेतनात्मक संसार परम ब्रह्म परमात्मा द्वारा प्रदत्त है, उससे व्याप्त है, आच्छादित है, इस पर हमारा कोई वश नहीं है। अतएव संसार में दृष्ट सभी वस्तुओं को ब्रह्म प्रदत्त या ब्रह्मस्वरूप समझ त्यागभाव से उपभोग करनी चाहिए—

ऊँ ईशावास्यामिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ।।^[9]

डॉ० दीपक कुमार ने प्राञ्जल व्याख्या करते हुए उक्त मन्त्रों में ब्रह्म की व्यापकता को प्रदर्शित करते हुए लिखा है—'ईश्वर सर्वत्र व्याप्त है और अनुभव विषयगत है, जगत् के अनुरूप है। अतएव हमें नित्य सत्य के आलोक में सोचना होगा।^[10]' जिस प्रकार बुलबुला एक क्षण के लिए जल के तल पर अवतरित होता है और कुछ देर

बाद अदृश्य हो जाता है। उस बुदबुद को जल ही कहना चाहिए। उसका वास्तविक स्वरूप जल ही है। उसी प्रकार इस जगत् का वास्तविक स्वरूप ब्रह्म है। वह ब्रह्म ही संसार के सम्पूर्ण वस्तुओं को भाषित करता है एवं साथ ही उसमें व्याप्त भी हो जाता है। वेद के अनेक मन्त्र इस बात की पुष्टि करते हैं—‘परमात्मा ने ही सूर्य एवं पृथिवी को दृढ़तापूर्वक धारण किया हुआ है।’^[11] अन्यत्र वर्णित है—‘तुम्हारे सिवा दूसरा कोई भी इस जगत् का स्वामी नहीं है, तुम्हीं ने इसे धरण किया हुआ।’^[12] उक्त तथ्य को उद्घाटित करते हुए तैत्तरीयोपनिषद् में वर्णित है—‘जगत् में जो कुछ है उस परमात्मा ने उत्पन्न किया और उस सम्पूर्ण जगत् की रचना करके उसमें स्वयं भी समाविष्ट हो गया।’^[13] रामचरितमानस में भी आया है—‘प्रभु व्यापक सर्वत्र समाना।’

आद्यगुरुशंकराचार्य अपने भाष्य में लिखा है— ‘जिस प्रकार चन्दन, अगरु आदि की जल आदि के सम्बन्ध में उत्पन्न गीलेपन आदि से होने वाली औपाधिक दुर्गन्ध होती है तथा चन्दनादि के स्वरूप के घर्षण करने से उनके परमार्थिक गन्ध से आच्छादित हो जाती है, उसी तरह आत्मा में अध्यस्त स्वभाविक कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदिरूपी जगत् भेदस्वरूप है और वह पृथ्वी में है। नामरूपात्मक सम्पूर्ण कर्मरूपी विकार समूह का ‘जगत्याम’ यह उपलक्षण पद है। यह परमार्थ सत्यस्वरूप आत्मा की भावना से परित्यक्त हो जाता है’।^[14]

ईशोपनिषद् के चतुर्थ मंत्र में ब्रह्म के स्वरूप को प्रदर्शित करते हुए विरोधाभाषी बताया गया है। अविचल वह ईश एक ही है, जो मन से भी अधिक वेगवान है। वह सबसे पुरातन एवं स्फूर्तिवान है, उसे देवगण (देवता अथवा इन्द्रिय समूह) प्राप्त नहीं कर पाते। वह स्थिर रहते हुए भी दौड़कर अन्य (गतिशीलों) से आगे निकल जाता है। इसके अंतर्गत (अनुशासन में रहकर) गतिशील वायु—अप् (सृष्टि के मूल घटक) को धारण किये रहता है।

**अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत् ।
तद्भावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा
दधाति ॥**^[15]

उपर्युक्त मन्त्र में आत्मा के स्वरूप का वर्णन है। शंकराचार्य जी उक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं—गतिहीन को ‘अनेजत्’ कहते हैं। ‘एज् कम्पने’ धातु से अनेजत् शब्द व्युत्पन्न है। ‘एज्’ धातु का अर्थ कम्पन् है।^[16] आत्मा के स्वरूप में किसी प्रकार की गति अथवा कम्पन् (वह सभी जीवों में होने वाले संकल्पादिरूप मन

की गति से भी अधिक वेगवाला है) नहीं होती है अर्थात् स्वरूप विच्युति नहीं होती। वह सर्वदा एक रूप रहता है। वह आत्मा एक है। वह सभी जीवों में होने वाले संकल्पादि रूप मन की गति से भी अधिक वेगवाला है। यदि कोई यह कहे कि आत्मा ध्रुव तथा निश्चल है तथा वह मन से भी अधिक वेगशाली है, यह परस्पर विरोधी बात कैसे कही जाती है? तो यह कोई दोष नहीं है, ये परस्पर दोनों विरोधी बातें निरूपाधिक तथा सोपाधिक रूप से उत्पन्न हो जाती है। आत्मा निरूपाधिक रूप से ध्रुव एवं अविचाली है तथा वह अन्तःकरण की मनरूप संकल्प—विकल्पातिमा उपाधि का अनुसरण करने के कारण मन से भी अधिक वेगशाली कहा गया है। देह में स्थित रहने वाला मन संकल्प के द्वारा क्षणमात्र में ब्रह्मादि दूर के लोकों में चला जाता है। अतएव मन की तीव्रगामिता लोक में प्रसिद्ध है। उस मन के ब्रह्मादि लोकों में बड़ी शीघ्रता से पहुँचने पर भी चूँकि आत्मा चैतन्य का अवभास वहाँ से चलने से ही पहुँचा हुआ सा अनुभव किया जाता है इसीलिए श्रुति उसे मन से भी अधिक वेगवान् बतलाती है।

उस आत्म तत्त्व को देवतागण भी उपलब्ध नहीं कर सके। ‘द्योतयन्ति इति देवाः’ इस व्युत्पत्ति के अनुसार विषयों की प्रकाशिका होने के कारण यहाँ पर इन्द्रियों को ही देव शब्द से अभिहित किया है। वे इन्द्रियाँ प्रकृत आत्म तत्त्व को नहीं प्राप्त कर सकीं। इन इन्द्रियों से तो मन ही वेगवान् है। अतएव आत्मा तथा इन्द्रियों के बीच मनोव्यापार का व्यवधान होने के कारण आत्मा का आभास मात्र भी इन्द्रियों का विषय नहीं बनता है।

प्रस्तुत मन्त्र में यह बताने का प्रयास किया गया है कि आत्म तत्त्व जितना ही गम्भीर है, उतना ही अवर्णनीय है। भाषा इसे व्यक्त नहीं कर पाती और विचार भी हार जाता है। शेष रह जाते हैं तो खाली संकेत और सुझाव। यही कारण है कि यह कभी—कभी विरोधाभाषी भी प्रतीत होता है, किन्तु यह गंभीर तत्त्व हमें अमृतत्व की ओर ले जाता है। यहाँ आत्म तत्त्व को विरोधाभाषी इस कारण कहा गया है क्योंकि मन्त्र कहता है कि वह अचल है फिर भी उसकी गति मन से भी तीव्र है, जिस तीव्रगति के कारण वह इन्द्रियों की पहुँच से बाहर है। अतएव ब्रह्म के स्वरूप की व्याख्या संभव नहीं यह निराकार है। साथ ही, सभी आकार इसके आकार हैं। यह निर्विशेष है किन्तु संसार में विद्यमान सभी वस्तुओं का नाम इसका ही नाम है। यह अद्वितीय है। इस बात पर बल देता है कि उपनिषद् विरोधाभाषी बातों को प्रस्तुत करता है। मन्त्र के प्रथम में उपनिषद् कहता है कि ब्रह्म ‘अनेजत्’ है। अगले ही शब्दों

में कहता है 'मनसो जवीयो'।^[17] इसका अर्थ है कि ब्रह्म के दो पहलु हैं। प्रथम यह निर्गुण है, साथ ही पूर्ण भी। यह शुद्ध चेतन्य मात्र है। साथ ही यह पूर्णसत्तात्मक एवं परम आत्मा है।

उपनिषद् दर्शन में ब्रह्म का आत्मा से तादात्म्य बताया गया है। दोनों सर्वथा एक ही है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म के द्विविध रूपों का विशद विवेचन किया गया है। ब्रह्म का स्वरूप विरोधाभाषी है, विरोधी नहीं।

उपर्युक्त मन्त्र में परमात्मा के उस स्वरूप का वर्णन मिलता है जो (अनेजत्) है अर्थात् कम्पन न करने वाला अचल एवं अविचल है, (एकम्)—एक अर्थात् अद्वितीय है। (मनसः) मन से (जवीयः) तीव्र गतिवाला है। (एनत्) इसका (देवाः) चक्षु आदि इन्द्रियाँ (न आप्नुवन्) प्राप्त कर सकी, क्योंकि जहाँ—जहाँ मन तथा इन्द्रियों की पहुँच है, वहाँ—वहाँ वह (पूर्वम्) (सर्वव्यापी होने से) पहले से ही (अर्षत्) पहुँचा हुआ है। (तत्) वह (धावत्) दौड़ते हुए (अन्यान्) अन्य वायु कालादि गतिशीलों अथवा मन, वाणी आदि इन्द्रियों का (अति—अति) अतिक्रमण कर जाता है। तिष्ठत् सर्वत्र व्याप्त ईश्वर की (तस्मिन्) स्थिरता में (मातरिश्वर) वायु आदि देवगण (अयः) मेघ आदि रूप जलों को (दधाति) धारण करने में समर्थ होता है।

ब्रह्म की व्यापकता के सन्दर्भ में ईशोपनिषद् मात्र इतने से नहीं उवता अपितु अगले मन्त्र में विरोधाभाषी स्वरूप वाला वह ब्रह्म सर्वव्यापक बन जाता है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।

तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः ॥^[18]

वह परमात्मा चलता है। वह नहीं चलता है। वह दूर है और वह समीप भी है। वह इस सम्पूर्ण जगत् अथवा समस्त प्राणियों के अन्दर है तथा वही इस प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष जगत् के बाहर भी विद्यमान है।

शंकराचार्य के मतानुसार प्रकृत प्रकार का विषयभूत आत्मतत्त्व चलता है और वही स्वयं नहीं भी चलता है। अर्थात् अज्ञानी जीवों के द्वारा सैकड़ों—करोड़ों वर्षों में भी वह प्राप्त नहीं किया जा सकता, अतएव वह दूर सा प्रतीत होता है।

'तद्वन्तिके' पद का तत् उ अन्तिके यह पदच्छेद है। वह अत्यन्त समीप भी है। वह केवल दूर ही नहीं है, अपितु विद्वानों का आत्मा होने के कारण वह अत्यन्त समीप भी है। वह इस सम्पूर्ण जगत् के भीतर है, इस अर्थ की सिद्धि 'य आत्मा सर्वान्तरः'^[19] अर्थात् जो आत्म तत्त्व सबों के भीतर है, इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं। आकाश के समान

व्यापक होने के कारण वह आत्म तत्त्व नाम रूप क्रियात्मक इस सम्पूर्ण जगत् के बाहर भी है और भीतर भी। 'प्रज्ञानघन एव'^[20] अर्थात् आत्मतत्त्व प्रज्ञाघन ही है, इस श्रुति के शासनानुसार वह निरन्तर भी है।

प्रस्तुत मन्त्र ब्रह्म संबंधी तीन बातों को इंगित करता है—प्रथमतः ब्रह्म अविचल होते हुए भी गतिमान है। द्वितीयतः वह समीप एवं दूर भी है। तृतीयतः ब्रह्म सभी के अन्दर और बाहर भी है। उपनिषद् का परस्पर विरोधाभाषी यह व्यक्तव्य ब्रह्म की अनिर्वचनीयता, सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्ता को द्योतित करता है।

ईशोपनिषद् के आठवें मन्त्र—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान्

व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥^[21]

(सः) वह परमात्मा (परि—आगात्) परितः आगात् चारों ओर से गया हुआ अर्थात् सर्वव्यापक है, (शुक्रम) सर्वशक्तिमान् (अकायम्) स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीर से रहित (अव्रणम्) घाव से रहित या शारीरिक विकारों से रहित (अस्नाविरं) नाड़ी आदि के साथ सम्बन्ध रूप बन्धन से रहित (शुद्धम्) अविद्या से रहित सर्वदा पवित्र (अपापविद्धम्) बुरे कार्यों के फल से रहित (कविः) कान्तद्रष्टा या सर्वज्ञ (मनीषी) सभी जीवों की मनोवृत्तियों का ज्ञाता (परिभूः) सर्वत्र सत्तावान (स्वयम्भू) स्वयं में निष्ठ है। यह परमात्मा ही (शाश्वतीभ्यः) अनादिकाल से (समाभ्यः) प्राणियों के (अर्थान्) कर्म का (याथातथ्यतः) यथायोग्य (व्यदधात्) विधान किया करता है।

आचार्य शंकर के अनुसार इस मंत्र में आत्मा के स्वरूप को बताया गया है। उपनिषद् में आत्मा और ब्रह्म को समान रूप से देखा जाता है। इस मन्त्र में शुक्रम से लेकर स्वयम्भू पर्यन्त सभी शब्द आत्मा के ही विशेषण हैं। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में आये हुए सभी विशेषण नपुंसकलिंग में हैं और मन्त्र के उत्तरार्द्ध में आये हुए सभी विशेषण पुल्लिंग में हैं। आचार्य शंकर का कहना है कि पूर्वार्द्ध में आये हुए सभी नपुंसक लिंग के विशेषणों को पुल्लिंग में लिंग—विपर्यास कर लेना चाहिए। आचार्य शंकर के अनुसार पर्यगात् श्रुति आत्मा को आकाश के समान सर्वव्यापक बतलाती है।

विशिष्टाद्वैतवादियों का कथन है कि श्रुति का 'सः' शब्द सभी भूतों की अन्तरात्मा रूप में ब्रह्म के दर्शन करने वाले मुमुक्षु को बतलाता है। श्रुति के 'पर्यगात्' क्रिया के द्वारा बतलाया गया है कि वह अधिकारी द्वितीयान्त विशेषणों

से विशिष्ट ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' श्रुति भी बतलाती है कि ब्रह्मनिष्ठ अधिकारी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। 'शुक्रम' ब्रह्म को स्वप्रकाश बतलाता है। 'अकायम' पद ब्रह्म को बतलाता है कि वह कर्मजन्य शरीर रहित है। अतएव दिव्यशरीरक होने के कारण वह ब्रण तथा स्नायुओं से रहित है। वह शुद्ध है अर्थात् उनमें अज्ञान आदि किसी प्रकार का दोष नहीं है। 'अपापविद्धम्' का अभिप्राय यह है कि ब्रह्म अज्ञानादि के कारणभूत पुण्य तथा पाप रूपी कर्मों के सम्बन्ध से रहित है। इस प्रकार श्रुति का पूर्वार्द्ध अखिलहेयप्रत्यनीक तथा अखिलकल्याणगुणाकरब्रह्म को मुमुक्षु अधिकारी का प्राप्य बतलाता है। मन्त्र के पूर्वार्द्ध में बतलाया गया है कि मुमुक्षु अधिकारी सभी जीवों की अन्तरात्मारूप से परमात्मा का साक्षात्कार करता है। मन्त्र के तृतीय चरण में बतलाया गया है कि ब्रह्म का साक्षात्कार कर अधिकारी क्रान्तदर्शी हो जाता है अथवा महर्षि वाल्मीकि तथा व्यास के समान परमात्मा के स्वरूपादि के बोधक ग्रन्थों का निर्माता हो जाता है। सर्वाधिक वेगशाली मन की भी नियामिका बुद्धि को मनीषा कहते हैं। ब्रह्मनिष्ठ अधिकारी मनीषा सम्पन्न होने के कारण मनीषी हो जाता है। वह अभ्यास तथा वैराग्य के द्वारा अपने अन्तःकरण को अपने वश में रखता है जिससे कि उसका मन कभी असन्मार्ग में प्रवृत्त नहीं होता है, परिभूः शब्द के दो अर्थ हैं—1. जो सबों से महान् हो उसे 'परिभूः' कहते हैं। मुमुक्षु पुरुष भी विद्याधिगम करके सर्वश्रेष्ठ हो जाता है। 2. जो अपने विरोधियों को प्रभावहीन बना दे, उसे भी 'परिभूः' कहते हैं। मुमुक्षु पुरुष भी काम, क्रोध, लोभ आदि षड्विकार को अपने विद्या की महिमा से प्रभावहीन बना देता है। 'स्वयंभूः' शब्द बताता है कि मुमुक्षु पुरुष सर्वदा अपने आत्मभूत परमात्मा का साक्षात्कार करता रहता है। अतएव यह अन्य निरपेक्षसत्तावान् हो जाता है। इस प्रकार मुमुक्षु पुरुष विद्या की पूर्तिकाल—पर्यन्त परमात्मा, परमात्मा के गुणों, परमात्मा के प्राप्ति के उपायों तथा परमात्मा प्राप्ति में बाधक विरोधियों को वास्तविक रूप से जानकर हृदय से लगाता है। वेदान्त मतमतान्तर से इतर इस पर यदि सोंचे तो प्रथम ही मन्त्र परमात्मा की अद्वितीयता या एकात्मकता का बोध 'स' शब्द द्वारा करवा देता है। परमात्मा की एकात्मकता का समर्थन अनेक वैदिक मन्त्रों में परिभाषित होता है—'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। वह परमात्मा सम्पूर्ण चराचर जगत् में सर्वव्यापी है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता का इस उपनिषद् के सभी पूर्वमन्त्र द्योतक हैं।

आचार्य शंकर का कहना है कि गर्भाधान से लेकर श्मशान तक कर्मों को करते हुए जो जीने की इच्छा करता है, उसे ब्रह्मविद्या के साथ ही जीवित रहना चाहिए। जो उपासक विद्या और अविद्या को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या के द्वारा मृत्यु को पार करके विद्या के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त कर लेता है। अमृतत्व की प्राप्ति के मार्ग को बताते हुए कहा गया है कि वह जो सत्य है, वही आदित्य है। इस आदित्य—मण्डल में जो पुरुष है तथा जो पुरुष दक्षिण नेत्र में है वे दोनों ही सत्य हैं जो ब्रह्म की उपासना करने वाला तथा यथोक्त कर्म को करने वाला है, वह अन्तकाल के उपस्थित होने पर आदित्यमण्डल में स्थित आत्मा से 'हिरण्यमयेन पात्रेण' इत्यादि मन्त्र के द्वारा इस प्रकार आत्म प्राप्ति के द्वार की याचना करता है।

आगे के अंतिम चार मन्त्रों में उपासक की मार्गचायना के साथ मरणोन्मुख उपासक की प्रार्थना है।

**हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्ट्ये ॥ [22]**

स्वर्णनिर्मित पात्र से सत्यस्वरूप परमात्मा का स्वरूप आवृत्त है अर्थात् ढका हुआ है। समस्त ब्रह्माण्ड के पालनहार हे परमात्मन् ! सत्यस्वरूप आपका साक्षात्कार करने के लिए उस आवरण को हटा दीजिए।

सुवर्ण के समान वस्तु को हिरण्यमयेन कहते हैं। हिरण्यमय का अर्थ ज्योतिर्मय है। उस पात्र के समान ढकने से आदित्यमण्डलस्य सत्य अर्थात् ब्रह्म का स्वरूप ढक गया है, आवृत्त हो गया है। हे पूषन्! उसे हटा दें। सत्य की उपासना करने वाले मुझ सत्यधर्मा के लिए अथवा अयथार्थ धर्म का अनुष्ठान करने वाले मेरे लिए जिससे कि मैं सत्यस्वरूप की उपलब्धि कर सकूँ। [23]

ब्रह्म वह तत्त्व है (तत्) जिससे सारा विश्व उत्पन्न होता है (ज अर्थात् जायते) जिसमें वह अन्ततः विलीन हो जाता है। ल अर्थात् (लीयते), जिसमें वह जीवित रहता है (अन्)—'तज्जलान्'। [24]

तैत्तिरीय में भी ब्रह्म को जगतकारण बताया गया है—'जिसमें यह समस्त जड़ चेतनमय विश्व उत्पन्न होता है। [25] तैत्तिरीय में ही सृष्टि के विकासक्रम को पंचकोशों द्वारा समझाया गया है। [26] सबसे नीचे अन्नमय कोश है, यह जड़ द्रव्य या भौतिक पदार्थ का स्तर है। यह ब्रह्म का निम्नतम रूप है। जहाँ चेतन्य सुप्त होने से लुप्त सा प्रतीत होता है। इससे ऊपर प्राणमय कोश है। यहाँ चेतन्य का स्फूर्ण प्रारम्भ हो गया है। यह वनस्पतिजगत्

एवं प्राणिजगत् का स्तर है। इससे ऊपर मनोमय कोश है। यहाँ चैतन्य मनोजगत् के रूप में प्रकट होता है। यह इन्द्रिय संवेदन और बुद्धि की प्रथमावस्था का स्तर है जहाँ ज्ञान सहज प्रवृत्तिजन्य है। यह पशु और मानव का सम्मिलित निन्द्रा, भय, क्रोध, आहार, मैथुन का स्तर है। उससे ऊपर विज्ञानमय और विविधकोश है। जिसमें केवल मानव का ही अधिकार है। यह सविकल्पक बुद्धि तर्क मनीषा और विविध ज्ञान—विज्ञान का स्तर है। इसके बाद सर्वोच्च आनन्दमयकोश है। यहाँ ब्रह्म के सत्, चित् और आनन्द का स्फुरण है। इस अखण्ड ब्रह्मानन्द की अनुभूति समाधि में होती है। यह प्रातिभिज्ञान या निर्विकल्प प्रज्ञा का स्तर है; किन्तु 'कोश' होने के कारण इसमें विकल्प का लेश बना रहता है। आनन्दमय का अर्थ प्रचूर आनन्द न होकर आनन्दरूप है। वस्तुतः ब्रह्म इन पंचकोशों के भी पार है। निर्विकल्प अनुभव किया जा सकता है। वर्णन करते ही वह सविशेष हो जाता है।

उपसंहारः

जीवात्मा जो शुद्ध चैतन्य प्रकाशित हो रहा है वही ब्रह्मरूप से इस समस्त विराट् बाह्य जगत् में ही व्याप्त है। जो व्यष्टि का आत्मा है वही समष्टि का आत्मा है। जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है। जीवात्मा के स्वतः अनुभव सिद्ध होने से उसकी सत्ता असंदिग्ध है, किन्तु उसमें विश्वरूपता या अनन्तता नहीं है। दोनों के ऐक्य से परमतत्त्व की स्वतः सिद्ध सत्ता और विश्वरूपता सिद्ध होती है। यह अभेद 'तत् त्वमसि' (वह तू ही है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है) 'सोऽहम्' (वह मैं हूँ) आदि महावाक्यों से सिद्ध है। ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त ये दो रूप हैं। यह मर्त्य और अमर्त्य स्थिर तथा अस्थिर (यत्) सत् (स्वलक्षण) तथा त्यत् (अवर्णनीय) है। इसे ही परमात्मा भी कहते हैं। यही परमात्मा अविद्या के कारण बन्धन में पड़ कर 'जीवात्मा' कहलाता है।

संदर्भः

1. बृहदारण्यको-5/01/01
2. अ इति ब्राह्मणः प्रथमं नामः। पूर्वमी० शा०भा०
3. अ कारार्थो विष्णुर्जगदुदयरक्षा प्रलयकृत्। अष्टश्लोकी।
4. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व, तद् ब्रह्म' ।।
5. वेदान्तसार सदानन्द, पृ०—34
6. वही

7. सांख्यकारिका
8. वेदान्तसार सदानन्द
9. ईशो-1
10. ईशो-डॉ० दीपक कुमार, चौ० प्र०, पृ०—19
11. येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्व स्तभितं येन नाकः।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ।। यजु० 32.6
12. प्रजापते न त्वतेदान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव। ऋक् 10/121/10
13. इदं सर्वमसृजत्। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्। तै० उ०
14. शा०भा०—प्रथम मन्त्र।
15. ईशो-4
16. शा०भा०—अनेजदिति। अनेजत् न एजत्। एज कम्पने कम्पनं चलनं स्वावस्थाप्रच्युतिस्तद्वर्जितं सर्वदैकरूपमित्यर्थः।
17. ईशावास्योप०—डॉ० दीपक कुमार, पृ०—39
18. ईशो-5
19. बृ०उप० 3/04/1
20. बृ०उ० 4/05/13
21. ईशो-8
22. ईशो-15
23. हिरण्मयेन.....शा०भा०
24. छा०उप०—3.14
25. तै०उप०— 3.1
26. तै० उप०— 3 वल्ली